जुलाई १९९४ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

आत्म-कथन

विपश्यना की रजत जयंती

२० जून, १९६९। जीवन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण दिवस। उस दिन परम पूज्य गुरुदेव ऊ बा खिन ने विपश्यना के आचार्य पद पर स्थापित कर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व सपा। पिछले कुछ वर्षों से इस बड़ी जिम्मेदारी को निभाने के लिए वे मुझे अपने सहायक के रूप में समुचित प्रशिक्षण दे रहे थे। अब उसे निभाने का समय आ गया था। अगले दिन ब्रह्मदेशीय जन्मभूमि छोड़ कर मुझे अपने पुरखों की पावन भूमि भारत के लिए प्रस्थान करना था। गुरुदेव चाहते थे कि विपश्यना की कल्याणी विद्या पुनः भारत लौटे। लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व यह मुक्तिदायिनी विद्या भारत से ब्रह्मदेश आयी थी। जिस गुरु-शिष्य परंपरा ने इसे जीवित रखा, गुरुदेव उसके प्रसिद्ध आचार्य थे। वे जानते थे कि यह विद्या अब भारत में सर्वथा लुप्त हो गयी है। वहां लोग इसका नाम तक भूल गये हैं। भारत में जन्मी यह कल्याणी विद्या पुनः भारत लौटेगी तो वहां के लोगों का बड़ा कल्याण करेगी। यह विद्या पा कर ब्रह्मदेश कभी भारत का ऋणी हुआ था। अब समय आ गया है कि यह ऋण चुकाया जाय। भारत की यह अनमोल आध्यात्मिक विद्या भारत लौटे और वहां संस्थापित हो कर विश्व में फैलती हुई विपुल लोक-कल्याण करे, यही उनकी प्रबल धर्मकामना थी। उनकी इस कल्याणी कामना की पूर्ति के लिए अपनी यथाशक्ति सेवा अर्पित करने का मैंने उन्हें आश्वासन दिया था।

परंतु भारत आते ही एक अत्यंत अप्रत्याशित दुखद आश्चर्य हुआ। यहां बसे हुए परिवार की सामयिक परिस्थितियां देख कर मुझे अपने अभियान की सफलता पर संदेह होने लगा; यद्यपि मेरे साथ परम पूज्य गुरुदेव का आशिर्वाद था और उनकी सुनिश्चित भविष्य वाणी सबल संपुष्ट पाथेय सदृश मेरे साथ थी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भारत अपनी खोयी हुई संपदा अवश्य स्वीकारेगा। वे बार-बार कहा करते थे कि इस समय भारत में ऐसे अनेक लोग जन्मे हुए हैं जो कि विपुल पुण्य-पारमिताओं के धनी हैं। उनका पूर्व पुण्य इस मुक्तिदायिनी विद्या के माध्यम से उन्हें शुभ फल प्रदान करने के लिए आतुर-उत्सुक है।

परंतु यहां पहुँचते ही देखा कि कठिनाइयां मेरे लिए मुँह बाए खड़ी थीं। शिविर कहां लगे? कैसे लगे? कौन लगाये? घर-बार छोड़ कर कौन मेरे साथ दस दिन बिताने के लिए तैयार हो? इस विपुल जनसंख्या वाले देश में मुझे कौन जाने? कितने जानें? अपने ही भारतवासी परिवार के लोग मेरे सबसे नजदीक थे। मैं उन्हीं के सहयोग की बड़ी आशा ले कर आया था। पर देख रहा था कि वे सब के सब बहुत पुण्यशाली तो अवश्य हैं, परंतु मार का कुछ ऐसा प्रपंच फैला है कि मेरे आने के कुछ समय पूर्व ही वे एक अन्य मार्ग से जुड़ गये। बर्मा रहते हुए ही मुझे इसकी जानकारी मिल चुकी थी। परंतु तब यह नहीं जानता था कि परिवार के इन आनंदमार्गी सदस्यों में इस कदर जड़ों तक कट्टरता समा गयी है। विपश्यना संबंधी कोई बात भी वे शांत चित्त से सुनने के लिए तैयार नहीं थे। विपश्यना के शिविर में सम्मिलित हो कर उसे एक बार आजमा कर देखने के लिए तैयार होना तो बहुत दूर की बात थी। शिविर लगाने में उनसे कोई सहयोग मिलेगा, इसकी संभावना बिल्कुल नहीं दीख रही थी। परिवार के बर्मा से आए हुए विपश्यी सदस्य बहुत पस्तहिम्मत थे। बरमा में सब कुछ खो देने पर भी भारत में परिवार अच्छा खासा धन-संपन्न था। तो भी बर्मा से आए हुए लोग मुरझाए हुए थे। उनमें से कोई शिविर-संचालन में सहयोग देगा इसकी भी कोई संभावना नहीं दीख रही थी। बर्मा से आए हुए अन्य भारतीय विपश्यी साधकों की दशा तो और भी खश्ता थी। उनमें से कुछ से संपर्क हुआ। परंतु उनकी ओर से भी शिविर लगा पाने की कोई संभावना नजर नहीं आयी।

शिविर लगाने से भी बड़ी समस्या थी अपनी माता की। शिविर लग भी जाय तो वह नहीं बैठ पायेगी। उसी के लिए तो विपश्यना शिविर लगाना था, जिसमें सम्मिलित हो कर वह अपने मानसिक संताप से मुक्त हो सके ।इसी उद्देश्य से भारत आया था। इसी आधार पर तत्कालीन बर्मी सरकार ने भारत यात्रा के लिए मुझे बर्मी पासपोर्ट दिया था जो कि उन दिनों की स्थिति में एक असाधारण और अनोखी बात थी। मा बहुत संतप्त थी। उसकी दुविधापूर्ण मनोस्थिति मैं खूब समझ रहा था। उसे विपश्यना से असीम अनुराग था। मेरे आने पर वह मेरे साथ बैठ कर नित्य विपश्यना ध्यान करने लगी थी। इससे उसकी जड़ीभूत हुई मानसिक चेतना फिर जाग उठी थी। सारे शरीर में पुनः चैतन्य की धारा-प्रवाह अनुभूति होने लगी थी। अतः शिविर लगे तो उसमें सम्मिलित होने का उसके मन में सहज आकर्षण था। इतनी दूर बर्मा से आए हुए अपने प्रिय पुत्र को वह निराश नहीं किया चाहती थी, परंतु साथ ही अपने भारतवासी आनंदमार्गी पुत्रों को नाराज भी नहीं किया चाहती थी। बड़ी उदास वाणी में बार-बार यही कहती थी – तू ही देख ले, मैं शिविर में कैसे बैठ सकती हूं?

सारा वातावरण निराशाजनित कुंठा से भरा हुआ था। लगता था असफल ही ब्रह्मदेश लौटना होगा। परंतु दूसरी ओर गुरुदेव की मंगल वाणी बार-बार कानों में गूंजती थी, "विपश्यना का डंका बज चुका है। निश्चित रूप से भारत में इसका पुनर्जागरण होगा और अभी होगा।" गुरुदेव की ही नहीं, हजारों वर्ष पूर्व के संतों की भी यही भविष्य वाणी थी। इसे याद कर कभी-कभी मन में उत्साह जागता, परंतु सामयिक स्थिति देख कर फिर निराशा की एक घटा उमड़ती और सोचने लगता कि विपश्यना का डंका तो अवश्य बज चुका है, परंतु इसके नव जागरण का काम मेरे हाथों न हो कर किसी अन्य के हाथों होगा। शायद मैं इसके लिए उपयुक्त पात्र नहीं हूं। इसीलिए ऐसी विकट, विषम परिस्थितियां उत्पन्न हुई हैं।

कभी-कभी इस निराशा के माहौल में फिर आशा की एक तरंग उठती थी। पु. गुरुदेव ने कहा था कि तुम्हारे भारत आगमन पर

प्रकृति कोई ऐसा निमित्त यानि चिन्ह प्रकट करेगी, जो तुम्हारी सफलता का परिचायक होगा। और ऐसा हुआ भी। रंगून से उड़ा हुआ विमान प्रातःकाल दमदम हवाई अड्डे पर पहुँचा। वायुयान से नीचे उतरते ही एक मंद भूचलन हुआ। दूसरे दिन दैनिक पत्रों में पढ़ा कि उस समय उत्तर भारत के बहुत बड़े भूभाग में यह भूचलन हुआ था। ब्रह्मदेश में सदियों से सुरक्षित अनमोल धर्म-धातु भारत लौटी है। अतः लगा जैसे भारत की भूमि अपना खोया हुआ रत्न पाकर रोमांचित हुई है। प्रथम बुद्ध-शासन के आरंभ के समय भी इसी प्रकार के चिन्ह प्रकट हुए थे। विपश्यना के प्रत्यावर्तन द्वारा इस द्वितीय बुद्ध-शासन के आरंभ होने पर भी प्रकृति ने क्या इसी प्रकार हर्ष प्रकट किया है? परंतु फिर आसपास के निराशाजनक वातावरण को देख कर मन कहता कि यह कोई आकस्मिक नैसर्गिक घटना है। मुझे इसे व्यर्थ ही इतना महत्व नहीं देना चाहिए। जो वास्तविकता है, उसे समझना चाहिए और स्वीकारना चाहिए। वह कितनी निराशाजनक है।

मन में आशा-निराशा के ऐसे झंझावात चल रहे थे। यों नौ दस दिन बीतते-बीतते निराशा का भाव प्रबल हो कर मानस में गहराता चला गया। तदनंतर एक शाम ऐसी ही मनोस्थिति में ध्यान के लिए बैठा। बहुत गहरी साधना हुई। साधना पूरी होने के कुछ समय पूर्व देखा कि भीतर चारों ओर घनघोर बादल उमड़ आए हैं। घटाटोप अंधकार छा गया है। सारा वातावरण तनावभरी आशंका से भर उठा है। ऐसी स्थिति में मैंने अपने मानस का निरीक्षण किया तो पाया कि वह रंच मात्र भी विचलित नहीं हुआ है। दृढ़ समता बनी हुई है। एकाएक मन में एक दृढ़ संकल्प जागा कि जो हो, सो हो। मैं धर्म को समर्पित हूं। धर्म जैसा चाहे, वैसा करे। मैं यदि योग्य पात्र हूं और मेरे पास पूर्व पारमिताओं का यथेष्ठ संचय है तो यह अंधकार दूर हो जाय और यदि ऐसा नहीं होता है तो मैं अपनी अयोग्यता स्वीकार कर लूं और अपने भारतवासी परिवार वालों से और मित्र बंधुओं से मिल मिला कर बर्मा लौट जाऊं। यह संकल्प पूरा होते-होते एकाएक बहुत तीव्र मंगल-मैत्री जागी; उन भाइयों के प्रति जो आनंद मार्ग में आकंठ डूबे हुए थे। उनका मंगल हो! उनका कल्याण हो! इन भावों से मानस अभिभूत हो उठा। मंगल-मैत्री के दौरान अचानक घनीभूत अंधकार पिघलने लगा कुछ ही क्षणों में सारा अंधकार दूर हो गया। मानस में एक प्रकाशभरे आनंद का स्रोत फूट पड़ा। सर्वत्र उत्साह ही उत्साह उमड़ने लगा। कहीं उदासी का नामोनिशान नहीं रह गया।

साधना से उठ कर बाहर आया तो देखा कि एक युवक मुझसे मिलने के लिए प्रतीक्षा कर रहा है। वह था विजय अडुकिया। वह दयानंद अडुकिया का पुत्र और मंगलचंद अडुकिया का पौत्र था। मंगलचंदजी हमारे समधी भी थे और बर्मा में समाजसेवा के क्षेत्र में मेरे साथी भी। उन्होंने वहां विपश्यना का एक शिविर भी कर लिया था। विजय ने कहा, "आप दस दिन का शिविर लगाना चाहते हैं, जगह का प्रबंध मैं कर दूंगा। पंचायती वाड़ी धर्मशाला का एक भाग दस दिन के लिए उपलब्ध हो जायेगा। मैं बात कर आया हूं। आप चाहें तो चल कर देख लें।"

अंधे को क्या चाहिए? दो नयन। मैं प्रसन्न मन से शिविर-स्थान देखने के लिए गया। ध्यान के लिए वह जगह बिल्कुल अनुपयुक्त थी। शहरी शोर शराबे के अतिरिक्त सर्वत्र गंदगी ही गंदगी। परंतु लाचारी थी। स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था। बंबई जैसी घनी आबादी वाली महानगरी में दस दिन के लिए कोई स्थान खाली मिल जाय, यही असंभव बात थी। अतः धर्मशाला के प्रबंधकों के प्रति आभार प्रकट करते हुए मैंने तुरंत स्वीकृति दे दी।

अब प्रश्न था कि शिविर में शामिल कौन होगा? परंतु साथ-साथ यह विश्वास भी जागा कि शिविर के लिए स्थान मिल गया तो कुछ एक साधक भी तैयार हो ही जायेंगे।

विजय ने यह सुना तो वह बड़े उत्साह के साथ बोल उठा, "एक साधक तो मैं ही हूं। मैं चाहता था कि शिविर की व्यवस्था का काम सँभालूं। पर अब इसे मेरे पिताजी दयानंदजी सँभाल लेंगे। मैं शिविर में सम्मिलित होऊंगा।"

बर्मा का मेरा एक पुराना मित्र और सहयोगी कांतिभाई गो. शाह घर पर मुझसे मिलने आया हुआ था। उसने यह सुना तो वह भी बड़े उत्साह के साथ कह उठा, "एक साधक मैं हूं और एक होगा अपना मित्र बी.सी. शाह। मैं उसे भी साथ ले आऊंगा।" मैंने कहा, "अब शिविर अवश्य लगेगा, चाहे दो-चार लोग ही शामिल क्यों न हों।"

मां पास बैठी थी। सदा प्रसन्न रहने वाला उसका चेहरा मुरझाया हुआ था। उसके मानस से फूटती हुई उदासी की तरंगें मेरे मन को झकझोर रही थी। रात को सोया तो बार-बार मां का उदास चेहरा मेरी आंखों के सामने आता रहा। मैं उसकी मनोदशा खूब समझ रहा था। दो परस्पर विरोधी तरंगों के बीच उसका मनो-मंथन हो रहा था। एक ओर इतनी दूर से उसी के लिए आया हुआ उसका प्रिय पुत्र विपश्यना का शिविर लगा रहा है। वह शिविर में बैठना भी चाहती है। परंतु दूसरी ओर उसका छोटा प्रिय पुत्र आनंद मार्गी है। उसे बुरा लगेगा। वह उसे भी दुःखी नहीं देखना चाहती। उसका वात्सल्य दोनों पुत्रों के लिए समान था। अतः उसके मन में बड़ी कशमकश थी। मेरा मन भी उदास था। उदासी का एक कारण तो यह था कि हजारों वर्ष पूर्व के संतों की भविष्य वाणी के सत्य होने के आसार नजर आने लगे हैं; लगभग दो हजार वर्षों के लंबे अंतराल के बाद भारत में विपश्यना का पहला शिविर लगने की संभावना प्रकट होने लगी है; बड़ी आशा ले कर आया था कि ऐसे ऐतिहासिक धर्म-यज्ञ में सम्मिलित हो कर और उसका संचालन कर के मेरा सारा भारतवासी परिवार इस महान पुण्य में भागीदार होगा; परंतु अब इसकी रंच मात्र भी संभावना नहीं दिख रही थी। दूसरा कारण था कि मैं अपने माता-पिता के ऋण से उऋण हुआ चाहता था। पकी हुई उम्र में उनकी सद्गति सुरक्षित करने का प्रयास किया चाहता था। परंतु उनके सम्मिलित होने की भी संभावना नहीं दिख रही थी। मैं क्या करता? लाचार था। मेरे पास केवल मंगल-मैत्री का ही बल था। उस रात माता-पिता और आनंद मार्गी भाइयों को हृदयवत्थु के भवंग क्षेत्र से प्रबल मंगल-मैत्री देते-देते सो गया। दूसरे दिन देखा सारा वायुमंडल विपश्यना के शिविर लगने की उत्साहभरी तरंगों से तरंगित है। सुबह-सुबह बर्मा के पुराने मित्र मोतीलाल चौधरी और बालचंद पोद्दार का पुत्र भरत मिलने आए। शिविर

लगने की सूचना पा कर दोनों सम्मिलित होने के लिए तैयार हुए। दोनों पुराने साधक थे। उन्होंने औरों को भी सम्मिलित करने का आश्वासन दिया। मद्रास फोन हुआ। वहां बसे परिवार के विपश्यी साधक शिविर लगने की सूचना पा कर हर्षित उत्साहित हुए। उनमें से तीन ने शिविर के लिए बंबई आने का निर्णय किया।

मां और पिताजी यह सब देख रहे थे। मां की कठिनाइयों को मैं खूब समझ रहा था। उस विषम परिस्थिति में उसे कुछ कह सकने का साहस नहीं कर पा रहा था। परंतु पिताजी के दबंग स्वभाव को खूब जानता था। वे बड़े निस्पृह थे। उन पर आनंद मार्ग का कोई प्रभाव नहीं था; यद्यपि वे आनंद मार्ग में दीक्षित हो चुके थे। लेकिन उन्होंने बर्मा रहते हुए गुरुदेव के पास विपश्यना का एक शिविर भी किया था, जिसमें उनकी आना-पान बहुत तीव्र हुई थी। उनका शून्यागार ध्यान के समय अधिकतर प्रकाशपुंज से भरा रहता था। गुरुदेव उनसे बहुत प्रसन्न थे। उनके लिए इस शिविर में शामिल होने की एक ही कठिनाई थी। वे अपनी दैनिक पूजा नहीं छोड़ना चाहते थे। इसका उन्हें बड़ा चिपकाव था। मैंने उनसे आग्रह किया कि जिस प्रकार बर्मा में दस दिन तक किसी अन्य ने पूजा कर दी थी, वैसा प्रबंध यहां भी किया जा सकता है। मुझे यह देख कर बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ कि वे इस सुझाव को तुरंत मान गए। यह देख कर मां ने भी साहस बटोरा और कहा कि आप बैठेंगे तो मैं भी बैठूंगी। दस दिन नहीं तो पांच दिन ही बैठूंगी।

मेरी खुशियों का क्या ठिकाना! मुझे अपने माता-पिता के ऋण से मुक्त होने का अवसर मिल रहा था। मुझे यों लग रहा था कि कौन जाने परिवार के अन्य आनंदमार्गी सदस्य तो कभी भविष्य में भी विपश्यना का लाभ ले सकते हैं, पर उन दोनों की उम्र पकी हुई है। उन्हें तो अभी बैठना चाहिए। और यही हुआ। नौ-दस दिनों की प्रसव-पीड़ा के बाद ३ से १३ जुलाई तक लगे प्रथम शिविर में वे दोनों बैठे। उनके साथ १२ अन्य साधक सम्मिलित हुए। मां दसों दिन शिविर में रही। उसे बड़ा लाभ हुआ। चौथे दिन विपश्यना देते ही भंग अवस्था मिली और भवंग का चैतन्य-जागरण परिपुष्ट और स्थिर होने लगा।

मैंने साश्चर्य देखा कि मेरे आनंद-मार्गी भाइयों ने इस प्रथम शिविर के प्रवर्तन में भले कोई प्रत्यक्ष सहयोग नहीं दिया, पर उन्होंने उस पुनीत कार्य में न कोई बाधा उपस्थित की, न विरोध प्रकट किया और न इस कारण रंच मात्र भी बुरा माना। हम सब की आशंकाएं निर्मूल निराधार साबित हुइर्। मेरा मन उनके प्रति कृतज्ञता के भावों से भर गया। शिविर समापन पर मैंने उस महान धर्म-यज्ञ की पुण्य-संपदा में मन ही मन उन्हें भागीदार बनाया और यही शुभ कामना की कि देर-सबेर उनका भी पुण्य फलदायी हो। वे भी विपश्यना का अमृतपान कर मंगललाभी हों।

कठिनाई प्रथम शिविर की ही थी। तदनंतर तो शिविर में सम्मिलित हो कर जो लाभान्वित हुए वे ही एक के बाद एक शिविर लगवाने लगे और धर्मसेवा देने लगे। मद्रास के विपश्यी साधकों ने निर्णय किया कि वे बंबई न आ कर मद्रास में ही अगले शिविर का आयोजन करेंगे और उसमें सम्मिलित होंगे। यही हुआ। यों देश में लगभग दो हजार वर्षों से सर्वथा शुष्क हुई पावन धर्म-सलिला, गंगोत्री की एक क्षीण धारा के रूप में फूट पड़ी और विगत पच्चीस वर्षों में यह भागीरथी इस देश के मनमानस को सींचती हुई विशाल धर्म-गंगा के रूप में प्रवाहमान हो उठी। भारत ही नहीं, सकल विश्व के कल्याण का कारण बन गयी। अनेकों के लिए विमुक्ति का द्वार खुल गया। मंगल सजीव हो उठा।

भारत में विपश्यना की यह रजत-जयंती भावी पीढ़ियों के लिए प्रेरणादायी बने। विपश्यना की धर्मगंगा उत्तरोत्तर संवर्धमान हो कर लोक-कल्याण करती रहे।

कल्याण मित्र,
स. ना. गो.

अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी (सेमिनार): विपश्यना और वर्तमान विश्व में इसकी प्रासंगिकता

नई दिल्ली की **'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी'** में १५ से १७ अप्रेल १९९४ तक एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें विपश्यना संबंधी कार्यों की प्रगति का मूल्यांकन किया गया। ब्रिटेन में भारतीय हाई कमीशन के उच्चायुक्त श्री एल. एम. सिंघवी ने इस संगोष्ठी का उद्घाटन भाषण दिया। इस संगोष्ठी में "विपश्यना – वर्तमान विश्व में उसकी प्रासंगिकता" विषय पर विशेष विचार-विमर्श हुआ। सेमिनार में विपश्यना के परिणामस्वरूप कारागृह में सुधार, औद्योगिक संस्थानों की व्यवस्था में सुधार, शिक्षा, पालि-संसोधन और शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य में सुधार जैसे विषयों पर अलग-अलग सत्र हुए। अपने प्रारंभिक तथा समापन प्रवचन में पु. गुरुजी श्री गोयन्काजी ने विपश्यना पद्धति की व्याख्या के साथ इस बात का उल्लेख भी किया कि किस प्रकार विपश्यना के निरंतर अभ्यास से व्यक्ति में परिवर्तन होता है, जिसके फलस्वरूप समाज उन्नत हो सकेगा।

संगोष्ठी में **"कारागृह सुधार"** विषय पर लोगों की विशेष अभिरुचि थी। दिल्ली में तिहाड़ जेल की महानिरीक्षक श्रीमती किरन बेदी ने इस सत्र की अध्यक्षता की। उन्होंने पूछे गए संबंधित प्रश्नों के उत्तर भी दिये। राजस्थान, गुजरात और दिल्ली की जेलों में हुए शिविरों का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया। बड़ोदा तथा तिहाड़ जेल के अधीक्षकों द्वारा विस्तृत वृतांत प्रस्तुत किया गया, जिसमें व्यक्तिगत स्तर पर किया गया अध्ययन भी शामिल था। **'अखिल भारतीय औषधि विज्ञान संस्थान', दिल्ली** के मनोचिकित्सा विभाग द्वारा कैदियों पर किये गये अध्ययन का एक वैज्ञानिक लेख पढ़ा गया। इससे ऐसा जान पड़ा कि विपश्यना बैर-भाव तथा निःसहायता की भावना को कम करती है तथा सुख और आशा की भावना में वृद्धि करती है। इसी सत्र में एक कैदी ने विपश्यना से हुए लाभ के बारे में अपना व्यक्तिगत अनुभव सुनाया।

दूसरे सत्र में औद्योगिक व्यवसाय के कामकाज में विपश्यना से हुए परिवर्तन पर विचार-विमर्श हुआ। जिन संस्थानों के व्यवस्थापकों और कर्मचारियों ने विपश्यना सीखी उनके आपसी संबंध सहयोगात्मक हो गये जिसके परिणाम स्वरूप संस्थान के उत्पादन में लगभग २० प्रतिशत की वृद्धि पायी गयी। व्यक्तिगत

शोधपत्रों में यह देखा गया कि व्यक्ति तथा औद्योगिक स्तर पर बढ़ती हुई अंतरचेतना के फल-स्वरूप कैसे समाज के प्रति जिम्मेदारी की भावना में वृद्धि हुई।

'शिक्षा एवं विपश्यना' के सत्र में भारत में हुए बाल-शिविरों की सफलता पर प्रकाश डाला गया। गत वर्ष इनमें पांच हजार से अधिक छात्रों ने भाग लिया। इस सत्र में प्रमुख विचार-विमर्श इस विषय पर हुआ कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में विपश्यना साधना को किस प्रकार जोड़ा जाय? छात्रों के माता-पिता तथा शिक्षकों ने यह भी सूचित किया कि विपश्यना का अभ्यास करने से बालकों की एकाग्रता तथा स्मरण-शक्ति में वृद्धि हुई। अंतिम शोधपत्र में विपश्यना का सामाजिक परिप्रेक्ष्य भी समझाया गया।

संगोष्ठी में एक ऐतिहासिक अवसर तब आया जब 'विपश्यना विशोधन विन्यास' द्वारा पालि त्रिपिटक ग्रंथों का देवनागरी संस्करण म्यंमा, श्याम, श्रीलंका और नेपाल के राजदूतों तथा प्रतिनिधियों को प्रदान किया गया। पालि सत्र में विपश्यना से संबंधित शोध-पत्र पढ़े गये।

अंतिम सत्र में शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर विपश्यना द्वारा हुए लाभ पर विचार-विमर्श हुआ। अनेक लेखों द्वारा पाया गया कि विपश्यना का निसर्गोपचार और मनो-चिकित्सा से कितना गहरा संबंध है। इस बात पर जोर दिया गया कि विपश्यना का मुख्य उद्देश्य चित्त-विशुद्धि है और उसके अभ्यास से होने वाले शारीरिक लाभ उप-फल मात्र हैं।

भवतु सब्ब मंगलं!